शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

अषाढ़ : २४८० वर्ष दसवाँ अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

शुद्धभाव से धर्म

आत्मा के परम शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता द्वारा पर्याय में जो शुद्धभाव प्रगट होता है, वह मोक्ष का कारण है। आत्मा का परम शुद्धस्वभाव ही उपादेय है; पुण्य-पाप दोनों विकारी भाव हैं, वे छोड़ने योग्य हैं; वे दोनों भाव अशुद्धभाव के पक्ष हैं, उससे धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा के शुद्धभाव से होता है।

[—नियमसार-प्रवचनों से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१११]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़—सौराष्ट्र

प्रौढ़-वय के ग्रहस्थों के लिये

जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग

प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी श्रावण शुक्ला २, शनिवार ता. ३१-७-५४ से भाद्रपद कृष्णा १०, सोमवार ता. २३-८-५४ तक श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग प्रारंभ होगा। तत्त्वज्ञान का प्रारंभिक अभ्यास करनेवाले जिज्ञासुओं को इस वर्ग का शिक्षण बहुत उपयोगी है। जिन भाईयों को इस वर्ग में सम्मिलित होने की इच्छा हो, वे अपने आने की सूचना भेजकर समय पर उपस्थित हो जायें।

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर सोनगढ़
(सौराष्ट्र)

लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका

यह पुस्तक तत्त्वज्ञान के प्रेमी प्रत्येक जिज्ञासुओं के प्रचार योग्य होने से शीघ्र मंगाकर तत्त्व-रहस्य के उत्तम अभ्यास करने का लाभ लीजिये।

मूल्य - ०-४-०

(२० बुक से ज्यादा मंगाने पर प्रतिशत २५) कमीशन।

प्राप्तिस्थान -
जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ : सौराष्ट्र

आत्मधर्म

अषाढ़ : २४८० वर्ष दसवाँ अंक तीसरा

वीतराग मुद्रित जिन-प्रतिमा

[भगवान की व्यवहारस्तुति कैसी होती है और उसका निमित्त कैसा होता है ?]

सर्वज्ञ भगवान का परम भक्त... सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा... जिसे आत्मा का भान है, वह अंतर में वीतरागी स्वभाव के अतिरिक्त रागादि किसी भाव का आदर नहीं करता और बाह्य में निमित्तरूप से भी वीतरागी प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य कुदेवादिक का बहुमान नहीं करता। श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाजी की मुद्रा में एकदम वैराग्यता दिखलाई देना चाहिए... ज्ञायक बिम्ब वीतरागी मुद्रा होना चाहिए... जिसकी मुद्रा देखते हो ऐसा लगे कि मानो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनंद और अनंतबल में लीनता से भगवान तृप्त-तृप्त हों!—ऐसी वीतरागी प्रतिमा होना चाहिए। यद्यपि वीतरागभाव तो अपने को अपने में से ही निकालना है, किन्तु जब शुभराग के समय बाह्य में लक्ष जाये, तब निमित्तरूप से ऐसी ही वीतराग जिनमुद्रा ही होती है। भगवान वीतराग हैं, उनकी प्रतिमा पर शृंगार नहीं होता, उनके आहार नहीं होता। भगवान की मुद्रा तो परम उपशमरस में झूलती है... जिसे देखते ही ज्ञायकस्वभावी आत्मा स्मरण में आता है। भगवान का ऐसा स्वरूप पहिचाने बिना भगवान के प्रति सच्ची भक्ति नहीं उछलती। जिसने जीवन में कभी वीतराग भगवान को न तो देखा है और न जाना है, उसे सच्ची भक्ति कहाँ से आयेगी ? पहिचाने बिना किसकी भक्ति करेगा ? वह भगवान की भक्ति के नाम पर शुभराग से पुण्य बन्ध करेगा, परन्तु उसे धर्म नहीं होगा, संसार से छुटकारा नहीं होगा।

भगवान को देखकर अन्तर में वीतरागी आत्मा का स्मरण कौन करेगा ?—जिसने आत्मा में वीतरागी स्वभाव का निर्णय किया होगा। अल्पज्ञ प्राणी आत्मा को केवली भगवान जैसा साक्षात् नहीं देख सकता, किन्तु अन्तर में स्वानुभव से आत्मा के स्वभाव का निःशंक निर्णय बराबर कर सकता है और वह जीव, भगवान की शांत-मुद्रा देखकर आत्मा के स्वभाव को स्मरण में लाता है। इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, वहाँ भी छद्मस्थ को उनका आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु निर्विकारी शांत देह दिखलाई देती है, उस पर से भगवान की वीतरागता का अनुमान हो जाता है। समवशरण में सुवर्ण का सिंहासन, गंधकुटी और कमल होता है, उससे भी चार अंगुल ऊपर आकाश में निरालम्बीरूप में भगवान विराजमान होते हैं। जिसप्रकार भगवान का आत्मा निरालंबी है, उसीप्रकार उनका दिव्य परमौदारिक शरीर भी आकाश में निरालम्बी रूप से विराजमान होता है। भगवान के शरीर पर वस्त्र नहीं होते, हाथ में शस्त्र या माला नहीं होती, बगल में स्त्री नहीं होती; और भगवान का शरीर परम औदारिक है, उसमें रोगादि नहीं होते, अशुचि नहीं होती, क्षुधा या आहारादि नहीं होते; मुद्रा पर भय, शोक या हास्य भी नहीं होता। एकदम शांत निर्विकारी वीतरागी ध्यानस्थ मुद्रा होती है और इच्छा के बिना सहज ही सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें सर्व पदार्थों के स्वरूप का कथन आता है।—ऐसे भगवान को देखने से चैतन्यबिम्ब आत्मस्वभाव लक्ष में आता है कि अहो! ऐसा मेरा आत्मस्वभाव। इसप्रकार अविकारी आत्मस्वभाव का स्मरण और बहुमान होने से संसार का स्मरण भूल जाता है और राग की रुचि दूर हो जाती है।—इसका नाम भगवान का सच्चा स्तवन है। ऐसे भानसहित धर्मात्मा के, वीतराग भगवान की प्रतिमाजी आदि की भक्ति का शुभराग आये, उसे व्यवहारस्तुति कहते हैं। उस व्यवहारस्तुति में भी निमित्तरूप से वीतराग जिनबिम्ब ही होता है। रागसहित-कुदेवादिक की भक्ति करे, उसे तो व्यवहारस्तुति भी नहीं कहा जा सकता, वह तो मिथ्यात्व है।

—यहाँ कोई अज्ञानी ऐसा पूछे कि—'व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और भगवान का शरीर तथा प्रतिमा तो जड़ है; फिर उनकी स्तुति किसलिये की जाये ?' उससे आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे मूढ़! हमने व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं कहा है। साधक जीव को जब बीच में शुभराग आता है, तब कभी-कभी भगवान की ओर लक्ष जाता है; वहाँ छद्मस्थ जीव को अपना या भगवान का आत्मा केवली की भाँति प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देता, शरीर दिखलाई देता।

वहाँ जिसके अन्तर में वीतरागी मुद्रा देखने से अंतरंग में आत्मा के वीतराग स्वभाव का निर्णय होता है।—इसप्रकार साधक जीव कावे परमार्थ के भानसहित व्यवहारस्तुति भी बीच में होती है; उसका जो सर्वथा निषेध करे, वह अज्ञानी हैं, और जो उसी को धर्म मान ले तो वह भी अज्ञानी है। इसमें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रतिमादि परपदार्थों के कारण जीव को शुभराग होता है। परपदार्थों के कारण शुभराग नहीं होता, किन्तु साधक को अपनी योग्यता के समय उसप्रकार का शुभराग होता है और उसमें वीतरागी जिनबिम्बादि योग्य निमित्त होते हैं—ऐसा समझना चाहिए।

[प्रवचन से]

आत्मार्थी का विचार और उद्यम

आत्मार्थी जीव अंतर में ऐसा विचार करता है कि—अरे! अल्पकाल का जीवन, इसमें मुझे अपने आत्मा का ही कार्य करने जैसा है। सम्यक्दर्शन के बिना जीव को कोई शरणभूत नहीं है, इसलिये मुझे तत्त्वनिर्णय करके अपने आत्महित का प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिए—ऐसा विचार कर सांसारिक कार्यों की प्रीति कम करके, चैतन्य के निर्णय का उद्यम करता है, उसी में अपना हित भासित हुआ है; इसलिये वह कार्य करने में प्रीति और हर्षपूर्वक उद्यम करता है। इसप्रकार अपने आत्मकार्य का महान उल्लास होने से निरंतर उसका उद्यम करता ही रहता है। मैं दूसरों को सुधार दूँ—ऐसे विचार में युक्त नहीं होता, किन्तु मैं तत्त्व को समझकर अपने आत्मा का इस भव भ्रमण में से उद्धार करूँ—ऐसा विचार कर, उसी का उद्यम करता है।—'काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग।'

सम्यक्त्वी की अंतर्दृष्टि

अनादिकाल से संसार में भटकते हुए जीव ने सब कुछ किया है; अनंतबार महान राजा और देव हुआ, और नारकी तथा पशु भी अनंतबार हुआ;—परन्तु अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप क्या है, वह बात कभी नहीं समझा। संसार में अज्ञानियों को सब सुलभ है,—एकमात्र आत्मस्वभाव की समझ ही परम दुर्लभ है। इसलिये श्री आचार्यदेव करुणा करके उस शुद्ध आत्मा का एकत्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि:—

अहो! जिसे जीवों ने कभी नहीं देखा है—ऐसा आत्मा का पर से भिन्न शुद्ध एकत्व ज्ञायकस्वरूप मैं अपने आत्म-वैभव से बतलाता हूँ। जीवों को अनंतकाल से जो समझना शेष रह गया है, वह मैं समझाता हूँ—इसलिये हे जीवो! तुम उसे प्रमाण करना। इस देह-मन्दिर में रहनेवाला परन्तु देह से पृथक् भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, क्षणिक राग-द्वेष तो अभूतार्थ हैं-नाशवान हैं, वे स्वभाव के साथ एकमेक नहीं हुए हैं; इसलिये उन राग-द्वेष से रहित एकाकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करो, शुद्ध दृष्टि से देखने पर आत्मा एक ज्ञायकभावरूप है, वही भूतार्थस्वभाव है, और उस भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दृष्टि के अनुभव में भूतार्थ एक ज्ञायकभाव ही प्रकाशमान है; भेद या राग की प्रधानता उसकी दृष्टि में नहीं होती; साधकदशा में राग और गुणस्थान भेद आता है, उसे जानते अवश्य हैं, परन्तु दृष्टि में से अभेद आत्मस्वभाव का अवलम्बन कभी नहीं छूटता; उनके परिणमन में स्वभाव और परभाव के बीच का भेदज्ञान सदैव-प्रवर्तमान रहता; राग होता है, उसे जानें वहाँ, 'यह जो राग है, सो मैं हूँ'—ऐसी आत्मबुद्धि नहीं होती परन्तु 'मैं अखण्ड चैतन्यस्वभाव हूँ'—ऐसी अखण्ड दृष्टि रहती है।—इसका नाम भूतार्थ का आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलम्बन है। युद्ध या विषय भोगादि के पापपरिणामों के समय भी अंतर की निर्विकल्प दृष्टि में से धर्मी को अभेद चैतन्यस्वरूप का आश्रय कभी नहीं छूटता, उसकी प्रतीति दूर नहीं होती; उपयोग में भले ही सदैव निर्विकल्पता न रहे, और राग या पर की ओर उपयोग हो, परन्तु साधकजीव की दृष्टि में तो कभी भी अभेदस्वभाव का अवलम्बन छूटकर भेद की प्रधानता नहीं होती। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है; यदि वह दृष्टि छूट जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं रहता;—इसप्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दृष्टिपना है।

[—श्री मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१३]

असंकुचित-विकासत्वशक्ति

क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसी चिद्विलासस्वरूप असंकुचित-विकासत्व नाम की शक्ति है; यह शक्ति भी आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में साथ ही परिणमित होती है। संकोचरहित विकास हो—ऐसा चैतन्य का विलास है। अमुक क्षेत्र और अमुक काल को जाने और उससे अधिक न जान सके—ऐसी कोई मर्यादा चैतन्य के विकास में नहीं है। चैतन्य का इतना विकास होता है कि उसमें किंचित् भी संकोच नहीं रहता; अमर्यादितकाल और अमर्यादित क्षेत्र को भी वह जान लेता है—ऐसा असंकुचितविकासरूप चैतन्यस्वभाव है। आत्मा में अनादि-अनंत ऐसा स्वभाव है कि उसके चैतन्यविकास में मर्यादा नहीं है। अमुक क्षेत्र और अमुक काल को जान लेने के पश्चात् अब विकास बस होओ—ऐसी सीमा उसमें नहीं है। आत्मा स्वयं भले ही असंख्य प्रदेशी है, परन्तु उससे कहीं उसकी चैतन्यशक्ति का विलास मर्यादित नहीं हो गया है; असंख्य प्रदेशी होने पर भी अनंतानंत अमर्यादित क्षेत्र को जाने—ऐसी उसकी शक्ति है। क्षेत्र में अनंतप्रदेशी या सर्वव्यापक हो, तभी उसकी अनंत शक्ति कहलायेगी—ऐसा नहीं है। स्वयं अल्पक्षेत्र में रहकर सर्वक्षेत्र को जान लेता है तथा एक समय में तीनकाल में जान लेता है; जानने में कहीं संकोच नहीं होता—ऐसी असंकुचित-विकासरूप शक्ति आत्मा में सदैव है। लोकालोक में जितने ज्ञेय हैं, उनकी अपेक्षा अनंतगुने होते तो उन्हें भी जान लेने की ज्ञान की असीम शक्ति है। जिसका स्वभाव ही जानने का है, उसके जानने में क्षेत्र या काल की मर्यादा नहीं होती।

आत्मा जानता है अपने असंख्य प्रदेश में, परन्तु जानता है अनंत क्षेत्र को! उसीप्रकार वह जानता एक ही समय में, परन्तु जानता है अनंत अमर्यादित काल को। देखो, यह चैतन्य का

विलास! इस चैतन्य विलास को कोई बंधन में नहीं रख सकता। जैसे-किसी मनुष्य को जेल में बन्द किया हो, परन्तु वह मनुष्य जेल की कोठरी में बैठा-बैठा अपने ज्ञान में बाहर के पदार्थों को जाने—तो क्या उसके ज्ञान को कोई रोक सकता है? तुझे जेल में बन्द किया है, इसलिये तुझे जेल के बाहर का ज्ञान नहीं करने देंगे—इस प्रकार क्या कोई उसे रोक सकता है? उसीप्रकार आत्मा के अपार ज्ञानविलास को कोई रोक नहीं सकता; उसे बंधन में नहीं रखा जा सकता। अमुक क्षेत्र तथा अमुक काल को जानने जितना ही विकास होता है और उससे अधिक नहीं हो सकता—ऐसा मर्यादित स्वभाव नहीं है; परन्तु अमर्यादित रूप से सर्वक्षेत्र और सर्वकाल को जाने—ऐसा संकोचरहित विकास होने का आत्मा का स्वभाव है। अल्पज्ञता और अल्पवीर्यादि संकोच रूप रहने का आत्मा का स्वभाव नहीं है; शक्ति का परिमित विकास रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; परन्तु असंख्य प्रदेश में और एक समय में पूर्ण अमर्यादित केवलज्ञान तथा अपार वीर्य, आनन्दादि विकास को प्राप्त हों—ऐसा अमर्यादित आत्मस्वभाव है।

देखो, ऐसी अमर्यादित शक्ति का पूर्ण विकास किसके आश्रय से प्रगट होता है। निमित्त का, विकार का या मर्यादित पर्याय का आश्रय करने से अमर्यादित सामर्थ्य प्रगट नहीं होता, परन्तु उल्टे पर्याय का सामर्थ्य संकुचित हो जाता है। आत्मा का त्रिकाल अमर्यादित स्वभाव है, उसका आश्रय करके परिणमित होने से पर्याय में भी असमर्यादित चैतन्यशक्ति व्यक्तरूप से उछलती है, प्रगट होती है। प्रथम ऐसे निजस्वभाव की प्रतीति करना, वह धर्म का प्रारम्भ है। वर्तमान पर्याय में अल्प विकास होने पर भी, द्रव्यसन्मुख दृष्टि से अपने पूर्ण विकास होनेरूप स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है; और अपने पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति न करके, पर्याय के अल्प विकास जितना ही अपने को मानकर वहाँ अटक जाना, वह पर्यायमूढ़ता का मिथ्यात्व है।

अज्ञानी जीव, आत्मा को निर्माल्य, तुच्छ और सामर्थ्यहीन मानते हैं; उन्हें आचार्यदेव आत्मा का अपार सामर्थ्यरूप स्वभाव बतलाते हैं कि देख भाई! तेरा आत्मा इस अल्प सामर्थ्य जितना ही संकुचित नहीं है; परन्तु संकोचरहित अपार विकास हो—ऐसा तेरे आत्मा का अचिंत्य सामर्थ्य है। आत्मा के प्रदेश तो असंख्य हैं; इसलिये उसका स्वक्षेत्र मर्यादित है; परंतु मर्यादित क्षेत्रवाला होने पर भी उसके ज्ञान में क्षेत्र को जानने की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है कि अमुक क्षेत्र तक ही जान सके! उसके चैतन्य सामर्थ्य का ऐसा अमर्यादित विकास है कि चाहे जितने क्षेत्र का और चाहे जितने काल का ज्ञान करने में उसका कहीं संकोच नहीं होता, मर्यादा नहीं आती और न

थकावट मालूम होती है। अधिक जाना, इसलिये ज्ञान थक गया अथवा ज्ञान में संकुचितता हुई–ऐसा कभी नहीं होता; आत्मा का चैतन्यस्वभाव संकोच रहित है। अपने चैतन्य विकास से लीलामात्र में तीन काल–तीन लोक को जान ले और साथ ही अपार आनंद का उपभोग करे—ऐसी अद्भुत चैतन्य विलास की मौज है। अज्ञानी मूढ़ जीव बाह्य में विषय–कषायादि में मौज मान रहे हैं, परन्तु वह तो आकुलता है—दु:ख है; उन्हें अपनी अतीन्द्रिय चैतन्यमौज की खबर नहीं है; इसलिये वे बाह्य इन्द्रिय–विषयों में मौज की कल्पना करते हैं। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे चैतन्यविलास में ही मेरी मौज है; वे बाह्य इन्द्रिय–विषयों में स्वप्न में भी मौज नहीं मानते।

चैतन्य का विलास कैसा है ? संकोचरहित अमर्यादित उसका विकास है; अमुक ही जान सके—ऐसी उसकी मर्यादा नहीं है; और चैतन्य का जो पूर्ण विलास प्रगट हुआ, वह फिर कभी संकुचित नहीं होता। आत्मा की स्वभावशक्ति को काल या क्षेत्र की मर्यादा नहीं है। पंचमकाल है और भरतक्षेत्र है, इसलिये आत्मा की स्वभावशक्ति में कुछ संकुचितता आ गई—ऐसा नहीं है; स्वभाव–सामर्थ्य त्रिकाल एकरूप है। चैतन्य के विलास को किसी क्षेत्र या काल की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता। जो क्षेत्र या काल की मर्यादा बाँधता है, वह चैतन्यतत्त्व को बंधन में डालता है। चैतन्यतत्त्व का अमर्यादित विलासरूप असंकुचित–विकास स्वभाव है, उसका तो कहीं नाश नहीं होता, वह तो इस समय भी प्रत्येक आत्मा में है; परन्तु जो उसे नहीं जानता, उसको संसार परिभ्रमण होता है।

यहाँ इन शक्तियों का वर्णन करके ऐसा बतलाना है कि ज्ञानमात्र आत्मा में यह समस्त शक्तियाँ भी साथ ही विद्यमान हैं; इसलिये आत्मा को ''ज्ञानमात्र'' कहने से एकान्त नहीं हो जाता, परन्तु अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है; ऐसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा को पहिचानकर उसका आश्रय लेने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और उसकी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होने लगती हैं। इन समस्त शक्तियों द्वारा ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही लक्षित होता है, इससे भिन्न अन्य कुछ लक्षित नहीं होता; क्योंकि आत्मा स्वयं ही अनंतशक्तियों का पिण्ड है। ऐसे अनेकान्त स्वरूप आत्मा का जानना ही जिननीति है। देखो, यह जैनधर्म की लोकोत्तरनीति ! आगे २६५ वें कलश में कहेंगे कि–ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त के साथ सम्बन्ध रखनेवाली दृष्टि द्वारा स्वयमेव देखते हुए, स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, जिननीति का अर्थात् जिनेश्वरदेव के मार्ग का उल्लंघन न करके, सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

''ज्ञानस्वरूप'' कहकर आत्मा की पहिचान कराई है; परन्तु आत्मा में कहीं अकेला ज्ञानगुण नहीं है, किन्तु ज्ञान के साथ दूसरे अनंत गुण हैं; वे समस्त गुण सहवर्ती हैं और उनकी पर्यायें क्रमशः एक के पश्चात् एक होती हैं; इसलिये पर्यायें क्रमवर्ती हैं। पर्याय तो नवीन होती जाती हैं और दूसरे क्षण नष्ट होती जाती हैं; गुण न तो नवीन होते हैं और न कभी उनका नाश होता है। द्रव्य त्रिकाल अनंतगुण का पिण्ड है। ऐसा आत्मस्वभाव समझ लेने से पर की उपेक्षा होकर अपने स्वभाव का आश्रय होता है, उसका नाम धर्म है। आत्मा की एक भी शक्ति पर में नहीं है; इसलिये पर-सन्मुख देखने से आत्मा ज्ञात नहीं होता और न उसके गुण प्रगट होते हैं। मात्र क्षणिक पर्याय पर दृष्टि डाले तो भी अनंत शक्तिवान आत्मा ज्ञात नहीं होता। ज्ञानादि अनंतगुणों का जो पिण्ड है, उसे अभेदरूप से लक्ष में ले तो आत्मा यथार्थ स्वरूप से ज्ञात हो।

मैं शरीरादि पर के कार्य करूँ—ऐसा जो माने उसकी पर्याय तो पर को देखने में ही अटक गई है; पर से भिन्न अपने आत्मा की ओर वह नहीं देखता; इसलिये उसका मिथ्यात्व दूर होकर उसे धर्मलाभ नहीं हो सकता। आत्मा के गुणों द्वारा जब पर से भिन्नत्व को जाना और परोन्मुखता छोड़कर आत्मोन्मुख हुआ, उस समय, पहले परलक्ष से जो ज्ञान-दर्शन-आनंद-वीर्यादि गुण संकुचित थे, उनका अब पर्याय में विकास प्रगट हुआ। स्वभाव में तो विकास होने का सामर्थ्य था ही, वह अब पर्याय में प्रगट हुआ। आत्मा में ऐसा असुंचितविकास धर्म है, इसलिये उसके सर्व गुणों में संकोचरहित अमर्यादित विकास हो—ऐसा उसका स्वभाव है।

मैं पर का करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है; तथा पुण्य-पाप ही मेरा कर्तव्य है—ऐसा जब जीव मानता था, उस समय पराधीन दृष्टि के कारण उसके ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि की पर्यायें संकोचरूप थीं; उनका विकास मर्यादित था; अब, अनंतशक्तिरूप निजस्वभाव की प्रतीत करके उसके आश्रय से ज्ञानादि का अमर्यादित विकास हो जाता है। आत्मा का ज्ञान सर्वथा ढँककर आत्मा जड़ हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। निगोद की नीच से नीच जघन्यदशा में भी ज्ञान का अमुक क्षयोपशमभाव (-विकास) तो होता है। इसलिये इतना अल्प विकास तो वहाँ भी था; परन्तु वह संकोचरूप था, मर्यादित था—आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है; संकोचरहित परिपूर्ण विकास हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। पर्याय में पूर्णता प्रगट हो जाने से परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीत में लेने की यह बात है, यानी साधकदशा की बात है। प्रथम अपने पूर्ण स्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रतीति ही न करे तो उसके पर्याय में पूर्णता कहाँ से आयेगी? किस के आधार से वह अपनी पर्याय

की पूर्णता को साधेगा? पराश्रय से लाभ मानेगा तो उल्टा मिथ्यात्व का पोषण होगा। इसलिये आचार्य प्रभु कहते हैं कि अन्य सब के साथ सम्बन्ध को भूल जा और अकेले अपने आत्मा को उसके अनंत गुणों द्वारा लक्ष में ले।—यही साधक होकर सिद्ध होने का मार्ग है।

एक बार अन्य पदार्थों के ऊपर से लक्ष हटाकर अपने आत्मा को पृथक् लक्ष में ले। देख, यह आत्मा है न?—'हाँ।' इस में ज्ञानादि गुण हैं न?—'हाँ।' अब, यह आत्मा अपने ज्ञानादि गुणों को पर से पृथक रखता है या पर के साथ एकमेक हो जाता है? आत्मा के गुण पर से तो पृथक ही हैं। जैसे कि—यह चंदन की लकड़ी है; इस लकड़ी के सुगंध आदि गुण हाथ से पृथक् हैं या एकमेक? पृथक् हैं। जिसप्रकार चंदन की लकड़ी के गुण हाथ से एकमेक नहीं हैं किन्तु पृथक् हैं; उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि गुण हैं, वे किसी अन्य कि साथ एकमेक नहीं है परन्तु पृथक् ही हैं। यदि अपने गुण, पर से पृथक् न हों तो पदार्थ ही पर से पृथक् सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा के गुण पर से पृथक् और आत्मा के साथ एकमेक हैं; ऐसे अपने गुणों से आत्मा की पहिचान होती है। इसलिये आत्मा की पहिचान कराने के लिये उसके गुण कौन-कौन से हैं, उनका यह वर्णन चलता है।

आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर परिपूर्ण विकसित हो—ऐसा उसका स्वभाव है। पर्याय में वह पूर्ण विकास कब होता है?—कि त्रिकाली प्रत्यक्ष परिपूर्ण स्वभाव का आश्रय करके परिणमित हो, तब पर्याय में पूर्ण विकास होता है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ विकार का आश्रय करके लाभ माने तो पर्याय का विकास नहीं होता किन्तु विकार होता है। और, जड़ का मैं करता हूँ—ऐसा मानकर जड़ के आश्रय में रुके तो आत्मा तो जड़ नहीं हो जायेगा किन्तु उसकी पर्याय संकोचरूप रहेगी; पर्याय का जो विकास होना चाहिए, वह नहीं होगा। पर के या विकार के लक्ष से आत्मा की पर्याय में संकोच होता है और विकास नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता। जीव की पर्याय में अनादिकाल से संकोच है; वह संकोच दूर होकर संकोचरहित विकास कैसे प्रगट हो—वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा में ज्ञानादि का अमर्यादित विकास होने की शक्ति त्रिकाल है; उसकी प्रतीति करने से वह प्रतीति करनेवाली पर्याय भी विकास को प्राप्त होती है। यहाँ तो आत्मा त्रिकाली संकोचरहित विकासरूप चैतन्य विलास से परिपूर्ण ही है; पर्याय में विकास नहीं था और प्रगट हुआ—ऐसी पर्यायदृष्टि की यहाँ प्रधानता नहीं है।

मेरी पर्यायें मेरे द्रव्य में से आती हैं और द्रव्य तो परिपूर्ण है;—इसप्रकार स्वसन्मुख होकर द्रव्य की प्रतीति करे तो उसके आश्रय से अमर्यादित रूप से चैतन्य का विकास होकर केवलज्ञान

हो। आत्मा के स्वभाव में अमर्यादित शक्ति होने पर भी उसकी पर्याय में अल्पता क्यों हुई? यदि स्वभाव का आश्रय करे तो स्वभाव जैसी ही पर्याय हो; परन्तु स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर्याय पराश्रय में अटकी, इसलिये उसमें अल्पता हुई; ज्ञान परोन्मुख होने से अल्प हुआ; श्रद्धा ने पर में एकत्व माना, इसलिये वह मिथ्या हुई; चारित्र की स्थिति स्वाश्रय से च्युत और परोन्मुख होने से आनंद के बदले आकुलता का वेदन हुआ; वीर्य भी परोन्मुखता से अल्प हुआ।—इसप्रकार परोन्मुखता में अटकने से पर्याय में अल्पता हुई; संकोच हुआ। वह अल्पता और संकोच दूर होकर पूर्णता का विकास कैसे हो, उसकी यह बात है।

आत्मा में जीवनशक्ति है, उसे भूलकर शरीर और अन्न इत्यादि से अपना जीवन मानता था, उस समय आत्मा की शक्ति संकुचित थी; उसके बदले अब जीवत्वशक्ति का भान किया कि मैं तो अपने चैतन्य प्राण से ही त्रिकाल जी रहा हूँ; इसलिये स्वाश्रय से सच्चे चैतन्य जीवन का विकास हुआ।

पहले अपनी स्वाधीन शक्ति को भूलकर चेतना तथा दर्शन-ज्ञान को पराश्रय से मानता था; उस समय उसकी पर्याय संकोचरूप थी; अब जहाँ स्वाधीन शक्ति का भान हुआ, वहाँ उसके आश्रय से चेतना तथा दर्शन-ज्ञान का अपार विकास प्रगट हो गया।

इसीप्रकार पहले अपनी स्वाधीन सुखशक्ति को भूलकर पर में सुख मानता था, उस समय सुख के बदले आकुलता का वेदन करता था; उसके बदले अब अपने पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर, सुखशक्ति तो आत्मा में ही है—ऐसा भान होने से आत्मा के आश्रय से सुख का विकास हुआ।

पहले जब पर में सुख मानता था, उस समय आत्मा का वीर्य भी पर में रुकता था, इसलिये वह संकोचरूप था; उसके बदले अब वह वीर्य स्वभावोन्मुख होने से स्वाश्रय से उसका भी विकास हुआ।

और, पहले अपनी प्रभुता को चूककर पर को प्रभुता देता था, इसलिये पर्याय में प्रभुता प्रगट नहीं हुई थी; उसके बदल अब निजस्वभाव की स्वाधीन प्रभुता का भान होने से उसके आश्रय से प्रभुता प्रगट हुई।

अपनी अनंत शक्तियों में विभुत्व भूलकर आत्मा को पर में व्यापक मानता था, उस समय उसकी शक्ति संकुचित थी; अपनी स्वतंत्र विभुता का भान होने से स्वाश्रय विभुत्व का विकास हुआ।

पुनश्च, सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति अपने में है, उसे भूलकर अपने को अल्पज्ञता

जितना मानता था, उस समय दर्शन-ज्ञान का परिणमन अल्प-मर्यादित-संकुचित था; उसके बदले अब आत्मा ही सर्वदर्शी और सर्वज्ञस्वभाववाला है—ऐसा भान होने से उसके आश्रय से सर्वदर्शिता और सर्वज्ञता का अमर्यादित विकास हो गया।

अपने स्वच्छ उपयोग स्वभाव को भूलकर अपने उपयोग को मलिन-रागादिमय मानता था, तब उसके उपयोग में लोकालोक ज्ञात नहीं होते थे; अब, आत्मा के स्वच्छ स्वभाव का भान होने से उसके आश्रय से उपयोग की ऐसी स्वच्छता विकसित हुई कि उसमें लोकालोक ज्ञात होते हैं।

और अपनी प्रकाशशक्ति को भूलकर अपने ज्ञान को पराश्रय से ही मानता था, इसलिये अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन नहीं होता था; अब, अपनी स्वाधीन प्रकाशशक्ति को जानने से ज्ञान अंतर्मुख होकर स्वयं प्रकाशमान ऐसा प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रकाशित हुआ।

—इसप्रकार, यहाँ आत्मा की जीवत्वादि बारह शक्तियों का वर्णन किया तदनुसार, आत्मा की शक्ति जब पराश्रय में रुकती है, तब उसके विकास की मर्यादा रहती है अर्थात् वह संकुचित रहता है; और आत्मस्वभाव का आश्रय करने से समस्त शक्तियों के परिणमन में अमर्यादित विकास हो जाता है। भले निगोद में हो या नवमें ग्रैवेयक में हो, परन्तु जिसे अपने आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं है और पराश्रय की रुचि है, उस जीव का परिणमन मर्यादित—संकुचित—रहता है, उसका अमर्यादित विकास नहीं होता। जो जीव अनंतशक्ति सम्पन्न चैतन्य भगवान अपने आत्मा को जानकर, उसके आश्रय से परिणमित होता है, उसे अपनी पर्याय में ज्ञानादि का अपार विकास हो जाता है। जीव क्या कर सकता है ? या तो आत्मा को भूलकर पराश्रय में रुककर अपनी पर्याय को संकुचित करेगा, या फिर आत्मा का भान करके उसमें एकाग्रता द्वारा पर्याय को विकसित करेगा;—इन दो के अतिरिक्त तीसरा कुछ नहीं कर सकता; अर्थात् अपने ही परिणमन में संकोच या विकास के अतिरिक्त पर के परिणमन में जीव कुछ कर ही नहीं सकता—ऐसा नियम है। और, अपने परिणमन में जो संकोच होता है, वह वास्तव में जीव का मूलस्वभाव नहीं है; संकोचरहित परिपूर्ण विकास हो—ऐसा जीव का स्वभाव है। जो ऐसे स्वभाव का भान करे, उसे उस स्वभाव के आश्रय से पर्याय का विकास होते-होते अमर्यादित चैतन्यविलास प्रगट हो जाता है!

प्रश्न—आत्मा, शरीर में रहता है, फिर भी वह शरीर का कुछ नहीं कर सकता ?

उत्तर—अरे भाई! वास्तव में आत्मा शरीर में विद्यमान ही नहीं है; आत्मा तो अपनी अनंतशक्तियों में विद्यमान है।

प्रश्न—परन्तु व्यवहार से तो शरीर में विद्यमान कहा जाता है न ?

उत्तर—भाषा की पद्धति से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा, शरीर में विद्यमान है; परन्तु भाषा की पद्धति भिन्न है और समझने की पद्धति भिन्न है। वस्तुस्वरूप क्या है, उसे न समझे और मात्र भाषा के शब्दों को ही पकड़कर वैसा वस्तुस्वरूप मान ले तो वह जीव अज्ञानी है। आत्मा, शरीर में विद्यमान है—ऐसा कहना तो निमित्त और संयोग का कथन है, परन्तु वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

आत्मा का परमार्थस्वरूप क्या है, उसे समझे बिना जीव की पर्यायबुद्धि और देहबुद्धि दूर नहीं होती। देह की क्रिया मैं करता हूँ, देह की क्रिया से मुझे लाभ होता है, व्यवहार का शुभराग करते-करते उससे मेरा कल्याण हो जायेगा—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसके पर्यायबुद्धि और देहबुद्धि बनी ही है; उसने वास्तव में आत्मा को देह से भिन्न जाना ही नहीं है। अनादि से स्वभाव को भूलकर पर्यायबुद्धि और देहबुद्धि से ही पर्याय में संकुचितता रही है और इसी से संसार है, अर्थात् पर्यायबुद्धि से ही संसार है। देह के सम्बन्ध से रहित और राग से भी पार, अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों से परिपूर्ण—ऐसे स्वभाव को जानकर उसमें तन्मयता करने से पर्याय का विकास होकर मुक्ति हो जाती है और संकोच तथा संसार दूर हो जाते हैं। आत्मा में ऐसी त्रिकाल शक्ति ही है कि प्रतिबंध रहित अमर्यादित चैतन्यविलास प्रगट हो।—इस शक्ति का नाम 'असंकुचित-विकासत्वशक्ति' है। [—क्रमशः]

आत्मा कौन है और

कैसे प्राप्त होता है ?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का
वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट
अपूर्व प्रवचन का सार

लेखांक १५] [अंक १०९ से आगे

✣ ''प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?''—ऐसा प्रश्न जिज्ञासु शिष्य करता है।

✣ उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि ''आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है। और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।''

✣ ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २४ नयों के प्रवचन अभी तक दिये जा चुके हैं आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

(२५) ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है। जिसमें अनेक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब झलकता हो, ऐसा दर्पण स्वयं अनेकरूप हुआ है; उसीप्रकार ज्ञान में अनेक प्रकार के परज्ञेय झलकते हैं—ज्ञात होते हैं; वहाँ ज्ञान अपने स्वभाव से ही ऐसी अनेकतारूप परिणमित हुआ है; कहीं परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुए हैं।

अपनी अनंत शक्तियों से सम्पूर्ण भगवान आत्मा अनंत धर्मों का स्वामी है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है; और उस प्रमाणज्ञान की किरण द्वारा उसका एक-एक धर्म ज्ञात होता है। नय, प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। यहाँ २५ वें नय से आत्मा का वर्णन चल रहा है।

प्रथम ज्ञान-ज्ञेय के अद्वैतनय से आत्मा को एक कहा, उसमें भी आत्मा पर से तो पृथक् ही है; और यहाँ ज्ञान-ज्ञेय के द्वैतनय से आत्मा को अनेक कहा; उसमें भी पर से तो पृथक् ही है। एकरूप और अनेकरूप भासित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है। आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ ही हैं। आत्मा का एकत्व देखनेवाला नय हो अथवा अनेकत्व देखनेवाला नय हो—वे सर्व नय आत्मा को ही उस-उस धर्म की मुख्यता से देखते हैं; पर के कारण आत्मा का धर्म है—ऐसा वे नहीं

मानते। एकपना और अनेकपना—इन दोनों को परस्पर विरोध है; परन्तु प्रमाणज्ञान उस विरोध को दूर करके आत्मस्वभाव को सिद्ध करता है।

जिस प्रकार दर्पण में मोर, सुवर्ण, आम, जामुन, नीम—इत्यादि अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देने से दर्पण की भी अनेकता भासित होती है; उसीप्रकार चैतन्यज्योति दर्पण भगवान आत्मा का ज्ञान भी अनेक पदार्थों को जानने से, अनेकतारूप से परिणमित होता है; इसलिये आत्मा में अनेकत्वरूप धर्म है। ज्ञेयों की अनेकता ज्ञेयों में है, उनसे तो आत्मा पृथक् है, परन्तु अरिहंत-सिद्ध, जड़-चेतनादि अनेक ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञान स्वयं अपने स्वभाव से ही अनेकतारूप होता है; वह अनेकता कहीं परज्ञेयों के कारण नहीं होती। जैसे, दर्पण में अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वह दर्पण की ही अवस्था है, दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वैसी ही अनेकाकाररूप पर्याय से परिणमित हुआ है; उसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण अनेक ज्ञेयाकारोंरूप परिणमित होता है; वह ज्ञान की अपनी अवस्था है; परज्ञेयों का आकार ज्ञान में नहीं आ जाता।

देखो, यह आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है; यह आत्मा के अपने वैभव का वर्णन है; ऐसे धर्मों द्वारा धर्मी-आत्मा—की पहिचान होती है। ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जाने तो स्वभाव की रुचि और सम्यग्ज्ञान हो; तथा उसमें एकाग्रता द्वारा मुक्ति प्राप्त हो।

प्रश्नः—आत्मा के इतने अधिक धर्मों को जानना तो उपाधि और राग का कारण होगा?

उत्तरः—अरे भाई! आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है; इसलिये आत्मा के इन धर्मों को जानना, वह कहीं उपाधि या राग का कारण नहीं है, परन्तु इन धर्मों से आत्मा को जानने पर राग टूटकर ज्ञान की निर्मलता में वृद्धि होती है अर्थात् निरुपाधिकपना होता है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में लोकालोक की अनेकता ज्ञात होने पर भी उनके ज्ञान में उपाधि नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु वीतरागता है। अनेकता को भी जानने का ज्ञान का स्वभाव है; ज्ञान में अनेकता ज्ञात हो, वह कहीं राग का कारण नहीं है। ज्ञान का द्वेत स्वभाव अपना है, वह लोकालोक के कारण नहीं है। ज्ञान में लोकालोक का जो प्रतिभास होता है, वह कहीं लोकालोक की अवस्था नहीं है, परन्तु वह तो ज्ञान स्वयं ही अपने वैसे धर्मरूप से परिणमित हुआ है; लोकालोक तो ज्ञान के बाहर है।—इसप्रकार द्वैतनय से अनेकाकार ज्ञानस्वभाव आत्मा को जानना, वह सम्यग्ज्ञान और वीतरागता का कारण है। ज्यों-ज्यों विशेष-विशेष पक्षों से आत्मस्वभाव का निर्णय करे, त्यों-त्यों जीव के ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती

जाती है और राग टूटता जाता है। वस्तु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान कभी भी उपाधि या राग का कारण नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह समस्त ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला है; उसका ज्ञान एकरूप रहने पर भी अनेक ज्ञेयों के ज्ञानरूप से अनेकरूप भी होता है—ऐसा उसका धर्म है। एकरूप रहना भी आत्मा का धर्म है और अनेकरूप होना भी आत्मा का ही धर्म है। आत्मा में वे दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं; और ऐसी अनंतधर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है!

ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से, वह अनेक पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित हुआ है; वहाँ ज्ञान अपना है, ज्ञेयों का नहीं है; और ज्ञेय ज्ञेय में हैं, ज्ञान में नहीं हैं। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता है। ज्ञान में अपने स्वभाव से द्वैतपना—अनेकपना भासित होने पर भी वह उपाधि नहीं है और न राग का कारण है। यह सब धर्म आत्मा के हैं; उन धर्मों द्वारा आत्मा का ज्ञान होने से प्रमाण-सम्यग्ज्ञान होता है; वह ज्ञान, राग का कारण नहीं है परन्तु वीतरागता का ही कारण है।

देखो, यहाँ कहे जा रहे हैं—ऐसे अनंतधर्मों का समावेश होकर परिपूर्ण आत्मद्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है। आत्मा के इन सर्व धर्मों में से एक भी धर्म को कम माने तो परिपूर्ण आत्मद्रव्य प्रतीति में नहीं आता और न आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है। साधक धर्मात्मा अनंतधर्मों को भिन्न-भिन्न रूप से भले न जान सके, परन्तु अपने ज्ञान में आ सकें, ऐसे प्रयोजनभूत धर्मों द्वारा वह अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभवपूर्वक जानता है; आत्मा के अनंत धर्मों की उसे निःशंक प्रतीति है—उसमें शंका नहीं होती।

जिसे अभी आत्मा के स्वरूप में ही शंका का वेदन होता हो, वह जीव भले त्यागी होकर बैठे, परन्तु उसे सच्चे व्रत होते ही नहीं; क्योंकि अभी उसके मिथ्यात्व की महान शल्य दूर नहीं हुई है; तब फिर उसके व्रतादि कहाँ से होंगे? तत्वार्थसूत्र में कहा है कि—"निःशल्यो व्रती"—शल्यरहित जीव ही व्रती होता है। जहाँ मिथ्यात्वादि शल्य विद्यमान हो, वहाँ व्रत नहीं होते। स्वानुभवपूर्वक यथार्थ आत्माद्रव्य को जानकर निःशंक न हो और मिथ्यात्वादि शल्य को दूर न करे, तबतक सच्चे व्रतादि नहीं होते। ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है—ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में कहीं ज्ञान में परपदार्थों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परन्तु ज्ञान की ही वैसी अवस्था दिखाई देती है। ज्ञान तो सदा अरूपी है और वृक्ष आदि तो रूपी हैं; तो अरूपी में रूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है? ज्ञान में पर को जानने की शक्ति है, इसलिये उसमें पर ज्ञात होता है;

उस अपेक्षा से ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब कहा है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाने के लिये निमित्त से वैसा कहा है। यदि ज्ञान में वास्तव में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञान काला हो जाये, दस हाथ ऊँच नीम का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे दस हाथ लम्बा होना पड़े! परन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं साढ़े तीन हाथ में रहकर भी दस हाथ ऊँचे नीम को ज्ञान जान लेता है; इसलिये परज्ञेयों का आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता, परन्तु ज्ञान उन्हें जान लेता है, उस अपेक्षा से ज्ञान में उनका प्रतिबिम्ब कहा है।

ज्ञान अपने ज्ञानभावरूप से एकरूप होने पर भी, अनेक ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उस अपेक्षा से उसमें अनेकता भी है। ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से जो अनेकता होती है, वह उपाधि या मैल नहीं है परन्तु ज्ञान का ही स्वरूप है। जिसप्रकार दर्पण में कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से जो कालापन दिखाई देता है, वह कहीं दर्पण का मैल नहीं है परन्तु वह तो उसकी स्वच्छता का परिणमन है; उसीप्रकार ज्ञान में अनेक ज्ञेय ज्ञात होने से जो अनेकरूपता होती है, वह कहीं ज्ञान का मैल नहीं है परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का वैसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय उसमें ज्ञात हों। मिश्री को, नीम को या निब्बू को जानने से ज्ञान मीठा, कड़वा या खट्टा नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञान में परज्ञेय का अभाव है; उस उसप्रकार के अनेकविध पदार्थों के ज्ञानरूप होने का ज्ञान का स्वभाव है।

जिसप्रकार ज्ञान, परपदार्थों को जानता है किन्तु पर की उपाधि ज्ञान में नहीं है; उसीप्रकार वास्तव में तो ज्ञान, विकार को भी जानता है परन्तु ज्ञान में विकार की उपाधि नहीं है। जैसे—कुछ वर्ष पहले किसी से कोई दोष हुआ हो और वर्तमान ज्ञान में उसका स्मरण हो कि अमुक वर्ष पहले मेरे इसप्रकार के बुरे परिणाम हुए थे; तो वहाँ पूर्व के विकारी परिणामों का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान के साथ पहले के विकारी परिणामों की उपाधि नहीं आ जाती। ज्ञान स्वयं विकार रहित रहकर विकार को भी जाने—ऐसा उसका स्वभाव है। अनेक प्रकार के समस्त ज्ञेयों को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु राग करने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान के समय साथ में जो राग होता है, वह दोष है, इसलिये वह तो निकल जाता है, परन्तु ज्ञान में जो अनेकता (अनेक पदार्थों का ज्ञान) होती है, वह तो उसका स्वभाव है; यदि उसे निकाल दें तो ज्ञान का ही नाश हो जाये, अर्थात् जो ज्ञान की अनेकता होती है, उसे न माने तो ज्ञानस्वभाव प्रतीति में नहीं आता। इसलिये हे भाई! तू शांत होकर अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर! तेरे ज्ञानस्वभाव में कैसे-कैसे धर्म विद्यमान हैं, वह आचार्यदेव बतलाते हैं; इसलिये उनकी महिमा लाकर पहिचान कर।

अहो! आत्मा का ज्ञान सामर्थ्य! ज्ञान किसे नहीं जानता? सबको जानता है। जानना कहीं दोष का कारण नहीं है। पूर्व के विकार का ज्ञान करना, वह कहीं दोष नहीं है। परन्तु जिसने वर्तमान में आत्मा का शुद्धस्वभाव जाना हो और उस स्वभाव में विकार नहीं है—ऐसा ज्ञान किया हो, वही पूर्व के विकार का यथार्थ ज्ञान कर सकता है। वह ज्ञान कहीं विकार का कारण नहीं है। सर्वज्ञ के ज्ञान में क्या ज्ञात नहीं होता?—केवली भगवान पूर्व काल में निगोददशा में थे, उसे भी वे जानते हैं; जगत के गूढ़ से गूढ़ विषयों को वे जानते हैं; तथापि उनके ज्ञान में किंचित्मात्र विकार नहीं होता।—तो हे जीव! क्या तुझमें वैसा स्वभाव नहीं है?? सर्वज्ञ का वैसा स्वभाव कहाँ से प्रगट हुआ है? भीतर आत्मा में वैसा स्वभाव शक्तिरूप से था ही; उसी के अवलम्बन से वह प्रगट हुआ है; और तेरे आत्मा में भी वैसा ही ज्ञानस्वभाव है; अन्तर्मुख होकर उसकी प्रतीति करके अवलम्बन कर तो तुझमें भी सर्वज्ञ जैसा स्वभावसामर्थ्य प्रगट हो जायेगा। जो सर्वज्ञ भगवान हुए, उनकी शक्ति में और तेरे आत्मा की शक्ति में कुछ भी अन्तर नहीं है; सर्वज्ञ की अपेक्षा तेरे आत्मा की शक्ति में किंचित् भी न्यूनता नहीं है। यदि आत्मा में सर्वज्ञ जितनी ही परिपूर्ण शक्ति न हो तो सर्वज्ञता आयेगी कहाँ से? वर्तमान पर्याय में हीनता और विकारी भाव हो, वह दोष है; परन्तु चैतन्य के ज्ञानसामर्थ्य में पूर्व का विकार ज्ञात हो, वह कहीं दोष नहीं है; वह तो ज्ञान का उसप्रकार का सामर्थ्य है। चैतन्य को पाप से भिन्न रखकर पाप का ज्ञान करे—वह तो चैतन्य की स्वच्छता की महिमा है। ज्ञान अंधा नहीं है कि विकार को न जाने। विकार को न करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है; परन्तु पूर्व काल में जो विकार हो गया हो, उसे न जाने—ऐसा कहीं ज्ञान का स्वभाव नहीं है। कोई जीव विकार का ज्ञान निकाल देना चाहे तो उसे ज्ञानस्वभाव की ही खबर नहीं है। अरे भाई! विकार ज्ञात होता है, वह तो तेरे ज्ञान का सामर्थ्य है; इसलिये उस ज्ञानसामर्थ्य को जान तो उसके अवलम्बन से विकार दूर हो जायेगा। आत्मा का विकास होने से विकार दूर हो जायगा परन्तु विकार का ज्ञान दूर नहीं होगा। सबका ज्ञान करके ज्ञानरूप से रहना और विकाररूप न होना—वही आत्मा का स्वभाव है। अपने ज्ञान में अनेक परपदार्थों को जानने से ज्ञान की अनेकता होती है; परन्तु वह ज्ञान कहीं पररूप नहीं हो जाता।—इसप्रकार अपने ज्ञान की प्रतीति करना चाहिए।

मिश्री मीठी है; अफीम कड़वी है; निब्बू को देखकर जीभ पर पानी आ जाता है और इमली को देखकर मुँह में अमी झरता है;—इसप्रकार समस्त पदार्थों की प्रतीति करता है, तथा इमली मुँह में दिये बिना मात्र उसे देखने ही मुँह में अमी झरता है—ऐसा मानता है; तो हे भाई! परज्ञेय ज्ञान में

प्रविष्ट हुए बिना चौदह ब्रह्माण्ड के समस्त ज्ञेय पदार्थों को देखकर आत्मा में उनका ज्ञान होता है और अपूर्व आनंद का रस झरता है—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति क्यों नहीं करता? ज्ञानस्वभाव को चूककर परज्ञेयों में अपनत्व मानकर उनमें राग-द्वेष करके अटका, इसलिये पूर्णज्ञान नहीं हुआ और आत्मा में आनन्द का रस नहीं झरा। परन्तु सर्व ज्ञेयों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर जैसे का तैसा ज्ञाता रहा और कहीं राग-द्वेष में नहीं रुका, वहाँ पूर्ण ज्ञान हुआ और आत्मा में अपूर्व अमृत झरा। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा के सहज आनन्दरूपी अमृत का अनुभव नहीं होता।

—यहाँ २५ वें ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। अब नियतिनय तथा अनियतिनय से आत्मद्रव्य का वर्णन करेंगे।

जगत को आवश्यक

अहो! आत्मतत्त्व की यह बात तो जगत को सर्व प्रथम समझने योग्य है; भले ही दूसरा कुछ आये या न आये परन्तु यह बात तो अवश्य समझने योग्य है; इसे समझे बिना कल्याण नहीं हो सकता। इसे समझने पर ही भव का अन्त आयेगा। *[—प्रवचन से]*

भव्य जीवों के कल्याण के लिये

संतों ने कैसा उपदेश किया ?

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय केवलज्ञान
कल्याणक के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

✦ वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला ९ ✦

इस प्रवचन में क्या पढ़ेंगे ?

❀ भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन का उपदेश ❀ सम्यग्दर्शनादि का सच्चा साधन ❀ जैनधर्म और उसकी अहिंसा ❀ अंतर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा ❀ भगवान की अहिंसा ❀ सच्चा सत्यधर्म ❀ शुद्धनय के आश्रय से ही आनंद की प्राप्ति ❀ भगवान किस पर प्रसन्न हुए ? ❀ आनंद की प्राप्ति कैसे होती है ? ❀ हे जीव ! तू अपना सँभाल ! ❀ सर्व जीवों के लिये कल्याण का एक ही पंथ है ❀ सत्यत्व की विरलता ❀ चैतन्य महिमा से च्युत होकर मूढ़ जीव जड़ और राग का स्वामी होता है ❀ कोलाहल छोड़कर सत्य समझने का उपदेश ❀ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करे तो अल्पकाल में स्वरूप की प्राप्ति हो ! ❀ केवलज्ञान ❀ नेमिनाथ प्रभु को केवलज्ञान और दिव्यध्वनिरूप उपदेश।

❀ भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन का उपदेश

धर्म कैसे होता है यह बात समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आचार्यदेव बतलाते हैं:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

आत्मा के परमार्थ स्वभाव को जानकर उसका आश्रय करने से ही जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म होता है, इसके अतिरिक्त किसी भी बाह्य क्रिया के आश्रय से धर्म नहीं होता। अनादिकाल से पर के और राग के आश्रय से धर्म मानकर अज्ञानी जीव, संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, परन्तु आत्मा के भूतार्थस्वभाव की दृष्टि अनंतकाल में कभी एक क्षण भी नहीं की है, और ऐसी दृष्टि प्रगट किए बिना कदापि धर्म नहीं होता। अज्ञानी जीव, व्यवहार के आश्रय से धर्म होना मान रहे

हैं, परन्तु व्यवहार के आश्रय का फल तो संसार है। परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा, वह भूतार्थ है; उस भूतार्थस्वभाव का पक्ष अर्थात् आश्रय जीव ने पूर्वकाल में कभी नहीं किया है। मोक्ष तो आत्मा के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिये भव्य जीवों के कल्याण के लिये आचार्यदेव ने भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन का और व्यवहार का अवलम्बन छोड़ने का ही उपदेश दिया है।

❀ सम्यग्दर्शनादि का सच्चा साधन

यह बात समझे बिना अनंतकाल में जीव ने सब कुछ किया किन्तु उससे कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

यम नियम संयम आप कियो
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास रह्यो मुखमौन रह्यो,
दृढ आसन पद्म लगाय दियो।

❀ ❀ ❀

जप भेद जपे तप त्योंही तपे
उरसें ही उदासी लही सबपैं
सब शास्त्रन के नय धारि हिये
मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन वार अनंत कियो
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारता है मन सें
कछु और रहा उन साधन सें।

उपरोक्तानुसार सब कुछ जीव अनंतबार कर चुका है और वह करते-करते धर्म होगा—ऐसा माना है, परन्तु उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ; क्योंकि अन्तर में अपनी स्वभावशक्ति ही समक्दर्शनादि का साधन है, उस सच्चे साधन को नहीं समझा और बाह्य में साधन माना। अंतर में चिदानंदी भगवान आत्मा स्वयं कौन है, उसके भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और भव-भ्रमण का अन्त नहीं आता।

आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होता है।

जिस प्रकार लैंडीपीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट की शक्ति है, उसी में से वह प्रगट होती है, कहीं खरल में से वह चरपराहट नहीं आती; उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि का परिपूर्ण सामर्थ्य भरा है, उसी में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; किसी निमित्त में से या राग के अवलम्बन से वे सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है परन्तु पर्याय के आश्रय से वह प्रगट नहीं होता—भूतार्थ द्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। निमित्त में, व्यवहार में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि उसका अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाए; अन्तर के भूतार्थनित्यस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि प्रगट हो जाता है। शक्ति है, उसमें से व्यक्ति होती है; इसलिये अपनी स्वभावशक्ति पर धर्मी की दृष्टि है; निमित्तादि संयोगों पर धर्मी की दृष्टि नहीं है। ऐसी अंतर्शक्ति को दृष्टि में लेकर उसका अवलम्बन करना, वह अपूर्व धर्म है। अनादिकाल से जीव ने कभी ऐसी दृष्टि प्रगट नहीं की। अज्ञानी जीवों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से है, और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहार का बहुत उपदेश है, परन्तु उस व्यवहार के आश्रय का फल तो संसार ही है। परमार्थस्वभाव समझाते हुए बीच में भेदरूप व्यवहार आ जाता है; किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं है; व्यवहार के आश्रय से लाभ माननेवाले तो संसार में भटकते हैं; उन जीवों ने शुद्धनय का पक्ष यानी आश्रय तो कभी लिया ही नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—कहीं-कहीं है; इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है। शुद्धनय भूतार्थ है—सत्यार्थ है; उसका आश्रय करने से ही सम्यक्त्व होता है; उसे जाने बिना जीव जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा में ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता।

❀ जैनधर्म और उसकी अहिंसा

देखो, यह जैनधर्म! जैनधर्म कहीं बाह्य में या राग में नहीं है परन्तु अंतर में आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही जैनधर्म है। परजीवों की दया और अहिंसादि का शुभभाव वास्तव में जैनधर्म नहीं है; जैनधर्म तो वीतरागभाव है। जैनधर्म की सच्ची अहिंसा तो यह है कि ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन में टिकने से रागादिभावों की उत्पत्ति ही न हो। लोग परजीवों की अहिंसा में धर्म मानकर अटक गये हैं; परन्तु भाई! 'मैं पर को बचाता हूँ, और राग से मुझे धर्म होता है'—ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण तेरे आत्मा का ही घात हो रहा है; पहले सच्ची समझ करके अपने आत्मा की दया तो पाल!

❀ अंतर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा

जिसप्रकार मोर के अण्डे में मोर होने की शक्ति है, उसीप्रकार चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान होने की शक्ति है। जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्हें केवलज्ञान कहाँ से आया? क्या शरीर के मजबूत संहनन में से या राग में से आया है?—नहीं, उसमें से नहीं आया परन्तु वर्तमान आत्मद्रव्य में परिपूर्ण शक्ति का पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख होकर उसके अवलम्बन से ही केवलज्ञान प्रगट हुआ है; द्रव्य में सामर्थ्यरूप से था, वही पर्याय में व्यक्त हुआ है। साढ़े तीन हाथ का सुन्दर मोर कहाँ से आया?—छोटे-से अण्डे में वैसी शक्ति थी, उसमें से एन्लार्ज अर्थात् विकास होकर मोर हुआ है। उसीप्रकार आत्मा की चैतन्यशक्ति की प्रतीति करने से उसका विकास होकर शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

अहो! भीतर शक्तिरूप से चैतन्य भगवान विराजमान है, परन्तु जीवों को उसकी महिमा ध्यान में नहीं आती। 'स्वभाव' क्या है, वह लक्ष में नहीं आता; इसलिये कहीं दूसरे के आश्रय से धर्म मानकर अटक जाता है। सम्पूर्ण आत्मा... परिपूर्ण चैतन्य भगवान... अन्तर्मुखदृष्टि का विषय है; इन्द्रियाँ या राग के अवलम्बन से वह ज्ञात नहीं हो सकता। जिसप्रकार पानी वर्तमान में गर्म होने पर भी उसका मूल स्वभाव ठण्डा है—वह निर्णय किसने किया? गर्म अवस्था के समय ठण्डा स्वभाव आँख से तो दिखाई नहीं देता, हाथ से स्पर्श में नहीं आता, परन्तु ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है; उसीप्रकार आत्मा की वर्तमान पर्याय में विकार होने पर भी चैतन्य स्वभाव शांत शीतल है, उसका निर्णय भी अन्तर्मुख ज्ञान से ही होता है, इन्द्रियों में या राग में वैसी शक्ति नहीं है परन्तु ज्ञान में ही वैसी शक्ति है। अतीन्द्रिय-रागरहित ज्ञान ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से आत्मा को जानता है। इन्द्रियों द्वारा अनुमान से ज्ञात हो—ऐसा आत्मा नहीं है; मन के अवलम्बन से भीतर शुभपरिणाम हों, उनसे भी आत्मा ज्ञात हो - ऐसा नहीं है; जितना व्यवहार है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि उसके अवलम्बन से परमार्थस्वभाव प्रतीति में आ जाये! इसलिये व्यवहार के आश्रय से कभी धर्म होता ही नहीं। पहले से परमार्थ-स्वभाव का आश्रय ही धर्म का उपाय है।

❀ भगवती अहिंसा

जिस क्षण अन्तर्मुख होकर परमार्थ स्वभाव को दृष्टि में लिया, उसी क्षण अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म का प्रारम्भ होता है। अन्तर्मुख होकर ऐसे चिदानंदस्वभाव का भान करना और उसमें स्थिर होना ही 'भगवती अहिंसा' है, वहीं अहिंसा आत्मा का हित करनेवाली है; उस अहिंसा को ही

भगवान ने धर्म कहा है। इसके अतिरिक्त परजीव की अहिंसा का शुभभाव तो राग है; राग कहीं धर्म नहीं है। बाह्य में भले किसी जीव की हिंसा न होती हो, परन्तु अन्तर में जितनी राग की उत्पत्ति हो, उतनी हिंसा है, और अंतर्स्वरूप में एकाग्रता होने से राग की उत्पत्ति ही न हो, वह वीतरागी अहिंसा है और वही धर्म है।

❀ सच्चा सत्यधर्म

और परमार्थरूप भगवान आत्मा सत्य परमेश्वर है। व्यवहार अभूतार्थ होने से असत्य है और आत्मा का भूतार्थ-स्वभाव सत्य है; उस सत् के आश्रय से ही परमात्मदशा प्रगट होती है; इसलिये आत्मा के ऐसे भूतार्थस्वभाव को जानना ही सच्चा सत्यधर्म है। शुभभाव से अनंतबार व्यवहार सत्य का पालन किया, परन्तु परमार्थसत्य ऐसे भूतार्थ आत्मा के भान बिना धर्म नहीं हुआ। इसप्रकार अहिंसा—सत्यादि सर्व धर्म आत्मा के परमार्थ स्वभाव के आश्रय में आ जाते हैं। अज्ञानी लोग अहिंसा-सत्यादि सब बाह्य में मान रहे हैं परन्तु वह यथार्थ नहीं है।

❀ शुद्धनय के आश्रय से ही आनंद की प्राप्ति

सच्चिदानन्द भगवान आत्मा का अवलम्बन लेकर उसकी प्रतीति करना और उसमें एकाग्र होना, वह धर्म है। चैतन्य से च्युत होकर जो व्यवहार के अवलम्बन से लाभ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार का फल तो संसार है। शुद्धनय का फल मोक्ष है; परन्तु शुद्धनय का पक्ष तो जीवों को कभी हुआ ही नहीं है। ज्ञानी को साधकदशा में व्यवहार होता अवश्य है, परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से वे कभी धर्म नहीं मानते। जिसे आत्मा का आनंद और शांति चाहिए हो, उसे यह रीति समझना पड़ेगी। जिस प्रकार गन्ना मिष्ट-मधुर रस की पोर है; उसीप्रकार आत्मा आनंदरस की पोर है; उसमें भेदज्ञानरूपी छुपी मारने से आनंदरस का अनुभव होता है। स्वभाव में आनंद भरा है, उसी में से आनंद की प्राप्ति है; आनंद कहीं बाहर से नहीं आता। यदि आत्मा में ही आनंदस्वभाव न हो तो कदापि आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

❀ भगवान किस पर प्रसन्न हुए ?

❀ आनंद की प्राप्ति कैसे होती है ?

देखो, अपने में केवलज्ञान और पूर्ण आनंद प्रगट करके तीर्थंकर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जगत के जीवों को उसका उपाय बतलाया है। जो जीव उस उपाय को समझकर अपने अंतर में से वीतरागी आनंद प्रगट करे, उसे भगवान आनंद के निमित्त होते हैं। जिसने अपने आत्मा के

आश्रय से वीतरागी प्रसन्नता प्रगट की, वह जीव भगवान पर आरोप करके विनय से ऐसा कहता है कि ''श्री तीर्थंकर भगवान मुझ पर प्रसन्न हुए; परन्तु भगवान तो वीतराग हैं, वे किसी पर प्रसन्न होकर कुछ दे नहीं देते। पूर्वकाल में अनंत तीर्थंकर हो गये; वर्तमान में श्री सीमन्धरादि तीर्थंकर महाविदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं, और भविष्य में भी अनंत तीर्थंकर होंगे; भगवान द्वारा कथित वस्तु स्वरूप को समझकर जो अपने में आनंद प्रगट करे, उसे भगवान आनंद के निमित्त हैं और निमित्तरूप से भगवान आनंद के दाता हैं। किन्तु जो स्वयं न समझे, उसे कहीं भगवान समझा नहीं देते, और न भगवान उसके लिये आनंद के निमित्त हैं। भगवान का परम आनंद भगवान के पास ही है, किन्तु यदि जीव स्वयं शुद्धनय का अवलम्बन लेकर स्वभाव का आश्रय करे तो उसे कल्याण और आनंद की प्राप्ति होती है। शुद्धनय के आश्रय बिना कभी कल्याण या आनंद की प्राप्ति नहीं होती। त्रिकाल के जीवों को सच्चे आनंद की प्राप्ति का यह एक ही मार्ग है। अरिहंत भगवन्तों ने इसी उपाय से अपने आत्मा में पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद प्रगट किया और दूसरे जीवों को इसी उपाय का उपदेश दिया।

❀ हे जीव! तू अपना संभाल!

प्रश्न :—आप जो बात समझा रहे हैं, वह बात बिलकुल ठीक है, लेकिन उससे समाज को क्या लाभ ?

उत्तर:—देखो भाई! पहली बात तो यह है कि अपने को अपना देखना है। समाज का भले चाहे जो कुछ हो, उसकी चिन्ता छोड़कर तत्त्वविचार की निर्मलता और स्वसन्मुखता से स्वयं अपना सँभालना चाहिए। बीच समुद्र में गोते खा रहा हो, उससमय समाज की या कुटुम्ब की चिन्ता करने में नहीं रुकता, परन्तु मैं समुद्र में डूबता कैसे बचूँ—उसी का प्रयत्न करता है; उसीप्रकार संसार-समुद्र में गोते खाते हुए महान कठिनाई से मनुष्यभव की प्राप्ति हुई है; उसमें मेरे आत्मा का हित कैसे हो; मेरा आत्मा संसारभ्रमण से कैसे छूटे यही देखना है; दूसरों की चिन्ता में रुके तो आत्महित रुक जाता है। यह बात तो स्वयं अपना हित करने की है। प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, इसलिये समाज के दूसरे जीवों का हित हो, तभी अपना हित हो सकेगा—ऐसी कोई पराधीनता नहीं है। इसलिये हे जीव! तू अपने हित का उपाय कर।

❀ सर्व जीवों के लिये कल्याण का एक ही पंथ है

दूसरी बात यह है कि जिस उपाय से एक जीव का हित हो, वही सर्व जीवों के लिये हित

का उपाय है। समाज कहीं पृथक् वस्तु नहीं है परन्तु अनेक जीवों का समूह, वह समाज है। उसमें से जो-जो जीव इस सत्य बात को समझेंगे, उन-उन जीवों का कल्याण होगा। कल्याण का पंथ सर्व जीवों के लिये त्रिकाल एक ही प्रकार का है। त्रिकाल के सर्व जीवों को सत्य से ही लाभ होता है; असत्य से कभी किसी को लाभ होता ही नहीं।

यहाँ ''सत्य'' अर्थात् क्या? कि आत्मा का भूतार्थस्वभाव ही सत्य है, उसी के आश्रय से जीव का कल्याण होता है। आत्मा के शुद्ध-चिदानंदस्वभाव के भान बिना तीनकाल-तीनलोक में किसी को शांति नहीं होती। अज्ञानी भले ही शुभराग करे, किन्तु वह धर्म नहीं है, और उस शुभराग के फल में सच्ची शांति नहीं मिलती।

❀ सत्यतत्त्व की विरलता

अहो! चिदानंदस्वभाव के आश्रय की यह बात समझना तो अपूर्व है और सुनना भी दुर्लभ है। बाह्य क्रियाकाण्ड से और शुभराग से धर्म मनानेवाले तो जगत में अनेक हैं; परन्तु शुद्धनय के आश्रय का उपदेश जगत में विरल ही है, तब फिर उसे सुननेवाले भी विरल हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है! योगसार में कहते हैं कि—

''विरला जाणे तत्वने, वली सांभले कोई,
विरला ध्यावे तत्वने, विरला धारे कोई।''६६॥

और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी तत्त्व की विरलता बतलाते हुए कहते हैं कि—

विरलाः निश्रृण्वन्ति तत्वं विरलाः जानन्ति तत्वतः तत्वं।
विरलाः भावयन्ति तत्वं विरलानां धारणा भवति॥२७९॥

जगत में तत्त्व को कोई विरले पुरुष ही सुनते हैं, सुनकर भी यथार्थरूप से सत्य को विरले ही जानते हैं, जानकर भी तत्त्व की भावना अर्थात् बारम्बार अभ्यास विरले ही करते हैं, अभ्यास करके भी तत्त्व की धारणा तो विरलों को ही होती है।

एक तो जगत में यथार्थ आत्मस्वरूप की बात सुनानेवाले ज्ञानी का मिलना ही बहुत महँगा है, और ज्ञानी के पास से वह बात सुनने को मिले तब—''वह तो निश्चय का कथन है''—ऐसा कहकर मूढ़ अज्ञानी जीव उसकी अरुचि करते हैं। ''अहो! यह तो जिसे मैं अनंतकाल से नहीं समझा—ऐसे मेरे स्वभाव की अपूर्व बात है''—इसप्रकार अंतर से आदर लाकर सुननेवाले जीव विरले ही होते हैं। मूढ़ जीवों को व्यवहार की अर्थात् राग की और बाह्य क्रिया की बात रुचिकर लगती है और चैतन्यतत्त्व की अपूर्व बात सुनने से अरुचि आती है। परन्तु भाई! यह बात समझे

बिना तेरा कल्याण नहीं हो सकता। भगवान! एकबार अंतर में चैतन्यस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि डाल! बाह्य महिमा को भूलकर अंतरंग महिमा को लक्ष कर, तो तेरा कल्याण हो।

❀ चैतन्यमहिमा से च्युत होकर मूढ़ जीव, जड़ का और राग का स्वामी होता है

अहो! एक समय में केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति आत्मा में है, किन्तु पर में एक परमाणु को बदलने की भी शक्ति आत्मा में नहीं है; क्योंकि आत्मा जड़ का स्वामी नहीं है। अपने को जो शरीरादि जड़ का स्वामी मानता है, वह तो महान मूढ़ है, और भूतार्थ चैतन्यस्वभाव की महिमा को भूलकर जो जीव, राग का स्वामी हो, वह भी मूढ़ है। जड़ का स्वामी तो जड़ ही होता है। जिसे जड़ से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का भान है, वह कभी जड़ का स्वामित्व नहीं मानता, अर्थात् शरीरादि जड़ की क्रिया मेरे कारण होती है—ऐसा वह नहीं मानता। जड़ शरीरादि की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा जो मानता है, उसे जड़ से भिन्न शुद्ध आत्मा का भान ही नहीं है। अनादिकाल से जीव ने शरीरादि की क्रिया का और रागादि व्यवहार का पक्ष किया है, अर्थात् उनके आश्रय से धर्म मानकर वहीं पर्याय को एकाग्र किया है; परन्तु देह से और राग से पार ऐसे अपने भूतार्थ चैतन्यस्वभाव का पक्ष कभी नहीं किया है, इसलिये जीव संसार में भटक रहा है।

❀ कोलाहल छोड़कर सत्य समझने का उपदेश

यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि हे जीव! व्यवहारनय का विषय तो अभूतार्थ है, उसके आश्रय से तेरा कल्याण नहीं है, इसलिये उसका आश्रय छोड़ और शुद्धनय के विषयभूत परमार्थ आत्मा का आश्रय कर; वह भूतार्थ है, उसके आश्रय से तेरा कल्याण है। बाह्य क्रिया से या शुभरागरूप व्यवहार से धर्म होगा—ऐसे अपने मिथ्या कोलाहल को छोड़ और जैसा हम कहते हैं, उसीप्रकार समझकर अपने शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर।

जो जीव यह बात नहीं समझता और विरोध करता है, उसे अपने आत्महित की बात आचार्यदेव मिठासपूर्वक समझाते हैं कि—

विरम किमपरेणसाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलद्धिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि॥३४॥

हे भव्य! तुझे व्यर्थ का कोलाहल करने से क्या लाभ है? इस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चय-लीन होकर देख। ऐसा अभ्यास छह मास तक कर और

देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में—जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे—आत्मा की प्राप्ति नहीं होती या होती है! अर्थात् अवश्य प्राप्ति होगी।

❀ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करे तो...

यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अर्थात् अनुभव अवश्य हो; यदि परवस्तु हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो निरन्तर उपस्थित है, प्रत्यक्ष है, किन्तु उसे भूल रहा है। यदि चेतकर देखे तो वह निकट ही है। यहाँ स्वरूपप्राप्ति के लिये छह मास अभ्यास करने को कहा, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है; परन्तु किसी शिष्य को वह कठिन लगता हो तो उसका निषेध किया है और कहा है कि हे भाई! यदि समझने में अधिक काल लगेगा तो भी छह मास से अधिक नहीं लगेगा, इसलिये तू अन्तर में इसका अभ्यास कर। अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल छोड़कर इसमें उद्यम करने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी।

देखो, यहाँ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करने को कहा है; एक परमार्थ चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य के आश्रय से लाभ हो जाएगा, अथवा व्यवहार करते-करते उससे धर्म हो जाएगा—ऐसी मान्यता, वह सब व्यर्थ का कोलाहल है; वह कोलाहल छोड़कर अंतर में परमार्थ स्वरूप की सन्मुखता का अभ्यास करे तो अल्पकाल में अवश्य उसका अनुभव हो।

❀ केवलज्ञान

अहो! चैतन्य के अद्भुत अचिंत्य निधान अंतर में भरे हैं। हे चिदानंदनाथ! तेरी अंतर्शक्ति में केवलज्ञान होने का सामर्थ्य भरा है; उसमें अन्तर्मुख होकर प्रतीति और एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा। [मंगलोत्सव की खलबली!]

❀ नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान और दिव्यध्वनि रूप उपदेश

—मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय चैत्र शुक्ला नवमी के दिन उपरोक्त प्रवचन चल रहा था, कि उसीसमय भगवान श्री नेमिनाथ को केवलज्ञान प्रगट हुआ और अचानक उस केवलज्ञान-कल्याणक की आश्चर्यकारी खलबली मच गई! भगवान के समवशरण की सुन्दर रचना हुई... उस समवशरण में विराजमान भगवान की भक्तिपूर्वक पूजा करके हजारों भक्तजन दिव्यध्वनि सुनने के लिये उत्सुक हो गये। उस प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप प्रवचन करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा कि—'भगवान का उपदेश धर्मवृद्धि का ही निमित्त है... भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही भगवान ने लाभ होना कहा है... जो जीव शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके अपने आत्मा में धर्म की वृद्धि करे, वही भगवान की दिव्यध्वनि का सच्चा श्रोता है।

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।